॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

श्रीहरिदास निवास पत्रिका

द्वैमासिक

वर्ष १ **अङ्क** २

वार्षिक सदस्यता शुल्क: रूपया १००/= मात्र (साधारण डाक व्यय सहित)

प्रकाशन तिथि :— विजया दशमी, संवत २०६७, २८ सितम्बर २०१०

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन- २८११२१, मथुरा, उ०प्र०

सम्पादक : श्री हरिदास शास्त्री

संस्थापक एवं अध्यक्ष :

श्रीहरिदास शास्त्री गो सेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन।

सम्पर्क सूत्र :—

0565 3202322, 0565 3202325 **(सम्पादक,** श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन **)**

09837172853, 09358703224 श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन

09313103109 नोएडा

09350261671, 09350110116, 09810098122, 09810876667 दिल्ली

Website: www.sriharidasniwas.org

E-mail: patrika@sriharidasniwas.org

info@sriharidasniwas.org

मुद्रक: श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

सम्पादकीय

पिछले अङ्क में हम लोगों ने देखा कि भगवद्बहिर्मुखता दोष ही समस्त प्रकार के दु:खों और अनर्थों का कारण है एवं भगवदुन्मुखता दु:खनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति का कारण है।

किन्तु अनादि काल से अविद्या के अभ्यास के कारण प्रारम्भ में भगवदुन्मुखता अर्थात् गुरु, गोविन्द, गो, शास्त्र आदि का अनुकूल अनुशीलन अच्छा नहीं लगता है, कटु प्रतीत होता है। इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कुछ काल तक भगवदुन्मुखता के अभ्यास से यह अच्छा लगने लगता है। जैसाकि श्रीलरूप गोस्वामिजी ने श्रीउपदेशामृतम् (७)में लिखा है —

स्यात् कृष्णनामचरितादि सिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्त रसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूल हन्त्री ॥

अर्थात् "अविद्या पित्त से उत्तप्त रसनायुक्त व्यक्ति के पक्ष में कृष्णनाम लीला गुणादिरूप मिश्री रुचिकर नहीं होता है, किन्तु प्रतिदिन आदरपूर्वक कृष्णनाम लीला गुणादिरूप मिश्री का [श्रीगुरु के आनुगत्य में] सेवन करते रहने से वह क्रमश: स्वादु बोध होने लगता है; एवं अविद्या रूप पित्त रोग के मूल को ध्वंश कर देता है।"

पाठकों के आग्रह पर इस पत्रिका का आकार ८ पृष्ठ से बढ़ाकर १२ पृष्ठ किया जा रहा है। पाठकों से निवेदन है कि जनहित में इस पत्रिका का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार करें। इस सम्बन्ध में सम्पादक से सम्पर्क करें।

सूचना :— १—पत्रिका के समस्त सदस्यों को सूचित किया जाता है कि वे भविष्य में अपनी सदस्यता के नवीनीकरण, पत्रिका के पुनर्प्रेषण, पता परिवर्तन आदि के लिए अपना नवीनतम् कोड संख्या अवश्य बताएं। कोड संख्या पत्रिका के लिफाफे पर सदस्य के पता के प्रारम्भ में अंकों में छपा हुआ मिलेगा। यह कोड प्राय: अपरिवर्तनीय होगा किन्तु विशेष परिस्थितियों में परिवर्तित कर नया कोड भी जारी किया जा सकता है। पुन: नया कोड संख्या पत्रिका के लिफाफे पर छपा हुआ मिलेगा।

२—पत्रिका में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी हेतु आवरण पृष्ठ पर दिए गये सम्पर्क सूत्रों पर सम्पर्क करें।

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

उत्तमाभक्ति :— एक परिचय— भाग- २

श्रीहरिदास शास्त्री (न्यायाचार्य्य)

पिछले अङ्क में उत्तमा भक्ति का परिचय संक्षेप में एकता अनुकूलता, त्याग समर्पण सेवा के रूप में दिया गया था। इस उत्तमा भक्ति को श्रीलरूपगोस्वामिजी ने स्वरचित श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में (१/१/११)— अन्याभिलाषिताशून्यम् इत्यादि श्लोक के द्वारा सप्रमाण परिभाषित किया है। यहाँ पर इसी परिभाषा के ऊपर विचार करते हैं। परिभाषा श्लोक निम्न प्रकार है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येनकृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

इस श्लोक के यथार्थ अर्थबोध के लिए इसमें प्रयुक्त प्रत्येक पद का विचार टीकानुसार करते हैं। क्रिया शब्द से जिस प्रकार धातु के अर्थ मात्र का बोध होता है, उसी प्रकार श्लोकोक्त अनुशीलन शब्द से भी धातुओं के अर्थ मात्र का बोध होता है।

प्रवृत्ति और निवृत्त्यात्मक भेद से धातु के अर्थ दो प्रकार होते हैं। प्रवृत्त्यात्मक धातु के अर्थ काय वाङ् मानसीय चेष्टा रूप हैं। निवृत्त्यात्मक धातु के अर्थ प्रवृत्ति से भिन्न हैं, प्रीति विषादात्मक मानसिक भावरूप हैं।

सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि — काय मन वाणी से जो भी क्रियायें होती हैं, चाहे वे चेष्टापूर्वक होती हों अथवा भावरूप में होती हों, उन्हें अनुशीलन कहते हैं। इस प्रकार अनुशीलन शब्द के द्वारा निखिल क्रियाओं का बोध होता है।

उपरोक्त अनुशीलन जब कृष्ण के सम्बन्ध में अथवा कृष्ण के लिए किया जाता है तो उसे "कृष्णानुशीलनम्" कहते हैं।

कृष्ण के सम्बन्ध में अथवा कृष्ण के लिए अनुशीलन करना है, ऐसा होने से गुरुपादाश्रय से लेकर भावरूप का भी ग्रहण होने से रति प्रभृति स्थायिभाव एवं व्यभिचारिभाव का भी लक्षण के द्वारा ग्रहण हुआ।

कृष्णानुशीलनम् शब्द में प्रयुक्त कृष्ण शब्द से स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, उनके विविधरूप एवं उनके अवतार समूह को जानना होगा। इनके बीच जो तारतम्य है उसका विवरण श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में दिया गया है।

"अन्याभिलाषिताशून्य" मित्यादि श्लोक में भक्ति-स्वरूप का स्थापन करने के लिए विशेषण 'आनुकूल्येन' दिया गया है। अर्थात् अनुकूल अनुशीलन से ही भक्ति होगी। प्रतिकूल अनुशीलन होने पर भक्ति नहीं होती है।

आनुकूल्य शब्द का अर्थ यदि — 'उद्देश्य श्रीकृष्ण को जो अच्छा लगे, उस प्रकार की प्रवृत्ति' किया जाता है तो इससे भक्ति लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष होगा। जैसे असुर के द्वारा प्रहाररूप अनुशीलन युद्ध रस है, उत्साह रति है। कृष्ण को अच्छा भी लगता है।

जैसाकि श्रीमद्भागवत के १।१३।२९ में उक्त है —

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री
पतिव्रता चानुजगाम साध्वी।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्ष
मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः॥

"जब परम पतिव्रता सुबल नन्दिनी गान्धारी ने देखा कि मेरे पतिदेव तो उस हिमालय की यात्रा कर रहे हैं, जो संन्यासियों को वैसा ही सुख देता है, जैसा वीर पुरुषों को लड़ाई के मैदान में अपने शत्रु के द्वारा किये हुए न्यायोचित प्रहार से होता है, तब वह भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ीं।"

दुग्ध रक्षा के लिए श्रीकृष्ण को छोड़कर यशोदा के चले जाने पर उस प्रकार का अनुशीलन कृष्ण को अच्छा नहीं लगा। श्रीमद्भागवत के १०।९।६ में उक्त है –

सञ्जातकोपः स्फुरितारुणाधरं
संदश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम्।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो
जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः॥

"इससे श्रीकृष्ण को कुछ क्रोध आ गया। उनके लाल-लाल होठ फड़कने लगे। उन्हें दाँतों से दबाकर श्रीकृष्ण ने पास ही पड़े हुए, लोढ़े से दही का मटका फोड़ डाला, बनावटी आँसू आँखों में भर लिये और दूसरे घर में जाकर अकेले में बासी माखन खाने लगे।"

इस प्रकार भक्ति के लक्षण में अति व्याप्ति-अव्याप्ति दोष निवारण करने के लिए, आनुकूल्य शब्द में प्रातिकूल्य शून्य, शब्द को जोड़ना आवश्यक है।

असुर में विद्वेष रूप प्रातिकूल्य होने के कारण अति व्याप्ति नहीं हुई अर्थात् असुर में भक्ति लक्षण लागू नहीं हुआ। श्रीकृष्ण को छोड़कर दूध रक्षा के लिए यशोदा के चले जाने पर उस प्रकार का अनुशीलन कृष्ण को अच्छा नहीं लगा, किन्तु यहाँ कृष्ण के प्रति प्रातिकूल्य न रहने के कारण यशोदा में भक्ति लक्षण गया है। इस प्रकार जानना होगा।

अनुशीलनम् शब्द में प्रयुक्त अनु पद का अभिप्राय यह है कि अनुकूल आचरण बार-बार, निरन्तर (मुहुर्मुहुः)किया जायेगा। यहाँ तक भक्ति का स्वरूप लक्षण वर्णित हुआ।

इस भक्ति का उत्तमात्व स्थापन करने के लिए अर्थात् यह भक्ति, उत्तमा-भक्ति सिद्ध हो, तटस्थ लक्षण द्वारा दो विशेषण देते हैं। ये दो विशेषण परिभाषा श्लोक के प्रथम भाग 'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम्' हैं। अब इनकी भी व्याख्या करते हैं।

किस प्रकार का अनुशीलन हो? अन्याभिलाषिता शून्य हो। अर्थात् भक्ति भिन्न फल पाने के लिये अभिलाष नहीं रहनी चाहिये। भक्ति केवल भक्ति प्रप्ति के लिए होनी चाहिए।

कारण श्रीमद्भागवत के ११।३।३१ में उक्त है –

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥

"हे राजन्! श्रीकृष्ण राशि-राशि पापों को एक क्षण में भस्म कर देते हैं। सब उन्हीं का स्मरण करें और एक-दूसरे को स्मरण करावें। इस प्रकार साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्ति का उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेक से पुलकित-शरीर धारण करते हैं।"

इस प्रकार भक्ति के लिए ही भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिये। उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है।

'अन्याभिलाष' शून्य को छोड़कर – स्वभावार्थक ताच्छील्य प्रत्यय युक्त 'अन्याभिलाषिता' शून्य के प्रयोग से बोध होता है कि किसी भक्त का कदाचित् अकस्मात् मरण संकट उपस्थित होने पर उसकी उक्ति यदि इस प्रकार होती है – "हे भगवान् मुझ भक्त की इस विपत्ति से रक्षा करो" इस प्रकार कदाचित् अभिलाषा होने पर भी क्षति नहीं होती, भक्ति होगी, कारण – विवशता के कारण स्वभाव बदल जाने से उस प्रकार अभिलाषा हुई है। इस प्रकार की अभिलाषा स्वाभाविक नहीं हुयी है। इससे शुद्ध भक्ति की हानि नहीं होती।

पुनः किस प्रकार का अनुशीलन हो? कहते हैं – 'ज्ञान कर्म आदि' से अनावृत (ढका हुआ नहीं) होना चाहिये।

यहाँ ज्ञान शब्द से निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान रूप ज्ञान को लिया गया है, न कि भजनीय तत्त्व (कृष्ण तत्त्व)अनुसन्धानरूप ज्ञान से। क्योंकि भक्ति में इसकी अवश्य अपेक्षा है। भक्ति शास्त्रीय पदार्थ है, अतएव भक्ति शास्त्र का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

कर्म शब्द से स्मृति शास्त्रों में लिखित नित्य नैमित्तिक कर्म को जानना होगा, न कि भजनीय (कृष्ण) की परिचर्यादि रूप कर्म को। यह परिचर्यादिरूप कर्म श्रीकृष्णानुशीलन रूप होता है।

आदि शब्द से यज्ञ-वैराग्य-योग-सांख्य के अभ्यास एवं आलस्य को जानना होगा। भक्ति इन सबों के द्वारा आवृत नहीं होनी चाहिये न कि पूर्ववत् अन्याभिलाषिताशून्यम् के तरह यह कर्म-ज्ञान शून्य। यहाँ पर भक्ति के आवरक ज्ञान-कर्मों का निषेध करने का ही अभिप्राय है। ज्ञान-कर्म मात्र का नहीं।

उक्त ज्ञान-कर्म भक्ति का आवरक कैसे होते हैं? प्रदर्शित करते हैं – विधि के अनुशासन से नित्य कर्म न करने से पाप के भय से श्रद्धापूर्वक यदि कर्म करते हैं, तब भक्ति की हानि होगी। इस प्रकार कर्म करने से भक्ति होगी, इस प्रकार श्रद्धा से कर्म करने पर भी भक्ति की हानि होगी।

किन्तु लोक संग्रह के लिए अर्थात् मेरे आचरण को देखकर अन्य लोक भी इस प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्म करें, इस प्रकार कर्त्तव्य बुद्धि से श्रद्धा रहित होकर महानुभावगण यदि पितृ आदि श्राद्ध कर्म करते हैं, तो भी शुद्ध भक्ति की हानि नहीं होगी, शुद्ध भक्ति का लक्षण उन सब महानुभावों में लागू होगा।

यहाँ पर श्रीकृष्णानुशीलनं – 'कृष्ण भक्ति' है, के स्थान पर केवल 'भक्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है, कारण – श्रीमद्भागवतादि भगवत् शास्त्रों में केवल 'भक्ति' शब्द का उल्लेख श्रीकृष्ण परक ही है।

पूर्वोक्त वर्णित उत्तमा-भक्ति के लक्षण का अन्वय साधन भक्ति से लेकर उत्तमा-भक्ति की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था महाभाव पर्यन्त है।

॥ इस प्रकार उत्तमा-भक्ति लक्षण प्रकरण पूर्ण हुआ॥

श्रीश्रीगौड़ीय वैष्णव ग्रन्थावली—

श्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्

श्रीहरिदास शास्त्री
(न्यायाचार्य्य)

संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय दर्शन से किंचित् मात्र भी सम्बन्ध रखने वाला ऐसा कौन होगा जो श्रीजीव गोस्वामी से भलीभाँति परिचित न हो? सभी जानते हैं कि वे उन छः गोस्वामियों में से थे, जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेश से व्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार तथा विशाल और मूलभूत वैष्णव साहित्य का निर्माण कर वैष्णव धर्म की नींव को सुदृढ़ बनाया।

श्रीजीवगोस्वामी, श्रीरूप-सनातन के छोटे भाई श्रीवल्लभ (अनुपम) के पुत्र थे। उनका जन्म गौड़ीय वैष्णवाचार्य स्वर्गीय श्रीवनमाली लाल गोस्वामी के ग्रन्थागार में सुरक्षित प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार संवत् १५८० में और अप्राकट्य संवत् १६६५ में हुआ (कुछ लोगों का मत है कि उनका जन्म संवत् १५६८ में और अप्राकट्य संवत् १६५३ में हुआ)। अल्पावस्था में ही काव्य, व्याकरण, न्याय, दर्शनादि में पारदर्शिता लाभ कर वे वृन्दावन चले गये और श्री रूप-सनातन के आनुगत्य में पूर्ण वैराग्यमय और भजनशील जीवन बिताने लगे। लगभग 65 वर्ष वृन्दावन में रहकर उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उनमें भागवत-सन्दर्भ, सर्व-सम्वादिनी, गोपाल चम्पू, माधव-महोत्सव और हरिनामामृत व्याकरण (भगवान पाणिनी के अष्टाध्यायी के अवलम्बन से)आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना प्रधान हैं।

पंडित समाज में व्याकरण को बालशास्त्र कहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि भागवत-सन्दर्भ जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता पंडित-अग्रगण्य श्रीजीव गोस्वामी ने बाल-शास्त्र-विषयक "श्रीहरिनामामृत व्याकरण" की रचना क्यों की? उत्तर यह है कि अन्य व्याकरणों को "बाल-शास्त्र" की संज्ञा भले ही दी जाय, पर श्रीहरिनामामृत व्याकरण के उद्देश्य और उसकी रचना-कौशल को देख इसे बाल-शास्त्र नहीं कहा जा सकता। इसका महान उद्देश्य है— व्याकरण अध्ययन-अध्यापन के बहाने शिक्षकों और छात्रों को कौशल पूर्वक हरिनामामृत का पान कराना (भगवद्भक्ति का अनुशीलन कराना)। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भगवन्नाम का उच्चारण यदि किसी अन्य अभिप्राय से किया जाय तो भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥ (श्रीमद्भा० ६।२।१४-१५)

"महात्मा पुरुष इस तथ्य को जानते हैं कि सङ्केत में, परिहास में, तान अलापने में अथवा किसी की अवहेलना करने में भी यदि कोई भगवान के नामों का उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

जो मनुष्य गिरते समय, पैर फिसलते समय, अङ्ग-भङ्ग होते समय, साँप के डँसते समय, आग में जलते समय तथा चोट लगते समय भी विवशता से 'हरि-हरि' कहकर भगवान् के नाम का उच्चारण कर लेता है, वह यम यातना का पात्र नहीं रह जाता।"

इसलिये इस व्याकरण में पाणिनि-प्रणीत व्याकरण की संज्ञाओं को भगवान् के नामों पर इस प्रकार रखा गया है कि व्याकरण पढ़ते समय भगवन्नाम की आवृत्ति और भगवद् रूप, गुण, लीला आदि का स्मरण स्वतः ही होता रहे। उदाहरण स्वरूप इसमें स्वर वर्ण को 'सर्वेश्वर' की और 'व्यञ्जन' वर्ण को 'विष्णुजन' की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि जिस प्रकार भगवान विष्णु सर्वेश्वर हैं और अन्यान्य देवी-देवता उनके अधीन रहकर विभिन्न प्रकार से उनका वैभव बढ़ाते हैं, उसी प्रकार 'स्वर' वर्ण वर्णों के ईश्वर हैं और 'व्यञ्जन' वर्ण उनके अधीन रहकर उनके ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं। 'व्यंजन' वर्ण न तो 'स्वर' वर्ण की सहायता के बिना उच्चारित होते हैं और न विभिन्न प्रकार के शब्दों की सृष्टि ही कर सकते हैं। इसी प्रकार 'पुलिंग', 'स्त्रीलिंग' और 'नपुंसक लिंग' को क्रमशः 'पुरुषोत्तम', 'लक्ष्मी' और 'ब्रह्म' लिंग की संज्ञा दी गयी है, 'विभक्ति' और 'पद' को क्रमशः 'विष्णु भक्ति' और 'विष्णु पद' की, 'बहुव्रीही' (समास) और 'द्वन्द्व' (समास) को क्रमशः 'पीताम्बर' और 'रामकृष्ण' की, तथा अन्य सभी संज्ञाओं को कोई न कोई ऐसी संज्ञा दी गयी है, जिससे उन संज्ञाओं के स्वरूप के संकेत के साथ भगवन्नाम का उच्चारण हो और भगवान के रूप, गुण, लीला आदि से मन का संयोग हो।

मनुष्य जीवन का महानतम उद्देश्य है भगवत्-प्रेम (एकता-अनुकूलता) की प्राप्ति। भागवतादि शास्त्रों का अनुशीलन इस उद्देश्य की प्राप्ति में विशेष रूप से सहायक है, और शास्त्रानुशीलन का प्रथम सोपान है व्याकरण। हरिनामामृत व्याकरण के अध्ययन से प्रारम्भ से ही मनुष्य में भगवत्-प्रेम का बीजारोपण और तदनुकूल संस्कारों की सृष्टि होती है। इसी उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना की गयी है। ग्रंथ के मंगलाचरण में अपने इस उद्देश्य को व्यक्त करते हुए श्री जीव गोस्वामी ने कहा है—

कृष्णमुपासितुमस्य स्त्रजमिव नामावलिं तनवै।
त्वरितं वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदम्॥

"भक्तगण जिस प्रकार तुलसी की माला के सहारे कृष्ण-नाम जप करते हैं, उसी प्रकार वे व्याकरण के सूत्रों के सहारे नाम-जप कर सकें, इस उद्देश्य से मैं श्रीकृष्ण-नामावलि का सूत्रों से ग्रन्थन कर रहा हूँ। इस माला के जप से श्रीकृष्ण-संग-जनित आनन्द की उपलब्धि होगी और व्याकरण शास्त्र में व्युत्पत्ति के साथ-साथ भागवतादि अप्राकृत शास्त्रों के अनुशीलन का अधिकार प्राप्त होगा।

आहतजल्पितजटितं दृष्ट्वा शब्दानुशासनस्तोमम्।
हरिनामावलिवलितं व्याकरणं वैष्णवार्थमाचिन्मः॥

कलापादि व्याकरण को निरर्थक और वागाडम्बर पूर्ण देखकर ही मैं वैष्णवों के लिये इस हरिनामावलि-सम्पुटित व्याकरण की रचना कर रहा हूँ, जिससे व्याकरणरूप मरुप्रदेश में प्रकृत जीवनरूप जल की आशा से व्यर्थ भटकने वाले लोग हरिनामामृतरूप सुधा का स्वच्छन्द पानकर तृप्त हो सकें।"

परन्तु इस व्याकरण का अवलोकन करने पर समझने में देर न लगेगी कि यह केवल वैष्णवों के लिये ही नहीं, अध्ययन परायण सभी व्यक्तियों के लिये कितना उपयोगी है। इसकी प्रक्रिया इतनी सरल है कि व्याकरण जैसे शुष्क और जटिल विषय को अति सरस और सुगम बना देती है। सूत्रार्थ समझने के लिये इसमें विवृति की आवश्यकता नहीं है। स्वल्पकाल में ही यह व्याकरण-शास्त्र में प्रौढ़ पांडित्य और अन्य व्याकरणों के सिद्धान्त, संज्ञा आदि का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करा देती है, क्योंकि इसमें सभी व्याकरणों का मन्थन कर, सबके सिद्धान्तों का सार लेकर, जो पद जिस प्रकार निष्पन्न होना चाहिये उस प्रकार किया गया है।

सरल होने के साथ-साथ हरिनामामृत व्याकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक भी है। श्रीजीव गोस्वामी ने वर्णक्रम को स्वयं नारायण से उद्‌भूत होकर ब्रह्मा-नारद-व्यासादि क्रम से प्राप्त माना है। अष्टाध्यायी में वर्णों का संगठन सूत्रों की संरचना के अनुसार होने के कारण मातृका क्रम या उच्चारण के स्थानानुसार नहीं है। जैसे अ, इ, उ, ऋ,....., ह, य, व, र, झ, भ, घ, ढ, ध इत्यादि। पर हरिनामामृत व्याकरण के अनुसार वर्ण नारायण से उद्‌भूत होने के कारण स्वाभाविक उच्चारण के अनुसार संगठित हैं। जैसे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ .. .., क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण इत्यादि। श्रीमद्भागवत के "तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये" (भा. १।१।१) और "प्रचोदिता येन" (भा. २।४।२२) इत्यादि वाक्यों से प्रामाणित है कि नारायण ने ही स्वनाभिकमलज ब्रह्मा के मुख से शब्द-ब्रह्म प्रकट किया है। यह भी श्रीमद्भागवत १२।६।४३ से प्रामाणित है कि नारायण से प्राप्त नादब्रह्म से ही ब्रह्मा ने अन्तःस्थ और उष्मादि अक्षरों को प्रकट किया है। श्रीजीव गोस्वामी ने इस प्रकार वर्णक्रम को नारायण से उद्‌घोषित मानकर व्याकरण में आरोहवाद की पद्धति की जगह अवरोहवाद की पद्धति को स्थान दिया है, जो आस्तिकवाद का मूल है। यहाँ नारायण शब्द का अभिप्राय व्रजीय श्रीकृष्ण (यशोदानन्दन) से है, ऐसा श्रीहरिनामामृत व्याकरण के 'नारायणादुद्भूतोऽयं वर्णक्रमः' सूत्र की अमृता टीका में सप्रमाण उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की 'बाल-तोषणी' 'तद्धितोद्दीपनी' और 'अमृता' टीकाएँ भी हैं। बाल-तोषणी टीका श्रीहरेकृष्ण आचार्य द्वारा लिखी गयी है, पर यह समास प्रकरण के २५९ सूत्र तक ही है। अवशिष्ट समास प्रकरण की टीका की पूर्ति श्रीगोपीचरण दास ने 'बाल-तोषणी' के नाम से की है। तद्धित-प्रकरण की 'तद्धितोद्दीपनी' टीका भी उन्होंने ही लिखी है। 'अमृता' टीका श्री गोपालदास द्वारा की गयी है। इनके अतिरिक्त एक अप्रकाशित टीका श्रीगोविन्ददेव-ग्रन्थागार जयपुर में है। श्री भरत मल्लिककृत कारकोल्लास ग्रन्थ भी प्रस्तुत ग्रन्थ के कारक-प्रकरण पर अवलम्बित है।

टीकाकार श्रीहरेकृष्ण आचार्य का कहना है कि हरिनामामृत व्याकरण का आधार "लघु हरिनामामृत" नामक एक संक्षिप्त व्याकरण है, जिसकी रचना श्रीसनातन गोस्वामी ने की थी। पर इस संक्षिप्त व्याकरण को अन्य व्याकरणों की अपेक्षा रहती थी, इसलिये श्रीजीव गोस्वामी ने वृहदायतन "हरिनामामृत व्याकरण" का प्रणयन किया।

संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार के लिये हरिनामामृत व्याकरण एक बेजोड़ ग्रन्थ है। इसके देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित संस्करण विश्वविद्यालयों को अवसर प्रदान करते हैं कि वे पाठ्य-पुस्तक के रूप में इसे अपना कर व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन को सरल और रुचिकर बनायें।

सर्व-देवमयो गावः

जगन्नाथ दास

(बी.टेक., आई.आई.टी. कानपुर)

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः।

इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते॥ (यजुः २३/४८)

"ब्रह्म की उपमा सूर्य से दी जा सकती है, उसी प्रकार द्युलोक की समुद्र से तथा विस्तीर्ण पृथ्वी की उपमा इन्द्र से दी जा सकती है परन्तु गो की उपमा है ही नहीं।"

संस्कृत में "गो" शब्द के कई अर्थ हैं। उसमें से कुछ अर्थ हैं— स्वर्ग, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, इत्यादि। अतः इस शब्द से एक प्रकार से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ही बोध होता है, इतना गुरुत्त्व है इस शब्द में। इसी शब्द से एक प्राणी का नाम-करण भी किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह प्राणी— गो, कोई साधारण प्राणी नहीं है। यह प्राणी एक प्रकार से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का द्योतक है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी प्राणी के शरीर में समाया हुआ है। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्माण्ड में करोड़ों देवता विभिन्न प्रकार के कार्यों का निर्वाह करते हैं अपनी अपनी शक्तियों से। शास्त्र हमें यह भी बताते हैं कि इन सभी देवी-देवताओं का निवास गो में ही है। ब्रह्माण्ड में एकमात्र प्राणी है गो जो सर्व-देवमय है। इसकी व्याख्या अथर्व-वेद, महाभारत, ब्रह्माण्ड पुराण, पद्म पुराण, इत्यादि में है। उदाहरण के लिए, स्कन्द पुराण के अवन्त्य खण्ड, रेवा खण्ड (८३.१०४-११२) में उक्त है— "गो सर्वदेवमयी और वेद सर्व-गोमय हैं। गो के सींगों के अग्र भाग में नित्य इन्द्र निवास करते हैं। हृदय में कार्त्तिकेय, शिर में ब्रह्मा और ललाट में वृषभध्वज शंकर, दोनों नेत्रों में चन्द्रमा और सूर्य, जीभ में सरस्वती, दाँतों में मरुतगण और साध्य देवता, हुंकार में अंग-पद-क्रम सहित चारों वेद, रोम कूपों में असंख्य तपस्वी व ऋषिगण पीठ में दण्ड-धारी, महाकाय, महिष-वाहन यमराज, स्तनों में चारों पवित्र समुद्र, गोमूत्र में विष्णु-चरण से निकली हुई पाप-नाशिनी गंगाजी, गोबर में पवित्र, सर्वकल्याणमयी लक्ष्मीजी, खुरों के अग्रभाग में गन्धर्व, अप्सराएँ व नाग निवास करते हैं। सागरान्त पृथ्वी में जितने भी पवित्र तीर्थ हैं, सभी गो के शरीर से उत्पन्न हुए हैं। विष्णु व गो-दोनों के ही शरीर में देवता निवास करते हैं। अतः गो को मनुष्य सर्वदेवमय कहते हैं।"

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम सेवा के द्वारा गो को तृप्त करें, तो सभी देवी-देवता तृप्त हो जाएंगे क्योंकि उन सभी का आवास गो में ही है। यह ही नहीं, गो सभी देवी-देवताओं की भी वन्दनीय प्राणी है। जो गो-सेवा में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है, वह समस्त देवी-देवताओं की सेवा कर लेता है। उसे सभी देवी-देवता के निमित्त किए गए यज्ञ, पूजन, तीर्थ अथवा व्रत का उत्कृष्ट फल प्राप्त हो जाता है। इसीलिए गो को कामधेनु कहा गया है— जो सभी के लिए कल्याणकारी है।

यहाँ एक बात और उठकर आती है। क्या गो के अलावा और किसी को सर्वदेवमय कहा जाता है? हाँ, भगवान् श्री हरि को "सर्वदेवमयी हरिः" कहा जाता है। अर्थात् श्री हरि में सभी देवी-देवताओं का निवास है। तो इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि गो एक ऐसा प्राणी है जो भगवान् श्रीहरि जैसा सर्वदेवमय है। गो भगवान् का एक ऐसा रूप है जो हमें इन प्राकृत नेत्रों से दिखता है, जिसे संतुष्ट करने से स्वयं भगवान् भी संतुष्ट होते हैं। इस बात की पुष्टि करने के लिए स्वयं भगवान् श्री कृष्ण इस जगत् में आकर जगत्-वासियों को दर्शाये थे कि वे स्वयं गो से कितना प्रेम करते हैं।

गो ही ऐसा प्राणी है जो भगवान् श्री हरि का चलता-फिरता रूप है एवं जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। अतः उपर्युक्त यजुर्वेदीय वाक्य में कहा गया है कि गो की कोई उपमा ही नहीं है।

Philosophy of the Vedas (*Tattva-vastu Darshan*)

- Dr. Snehansu Mandal
[Ph.D., IIT Kanpur]

According to the Vedas, reality is one. But it manifests to the observer at different levels as per the qualification of the observer. The outlook of the Vedas is called non-materialism (*astikata, Chetan-vastu-vada*) and the outlook which negates non-materialism is called materialism (*nastikata, Jada-vastu-vada*). Those who accept materialism are called *nastikas* and those who accept non-materialism are called *astikas*.

Vedas accept three levels of reality. One is the gross, external, physical world. This gross physical world is constituted of *kshiti, apah, tejah, marut, vyom*, which are five fundamentally different types of gross matter. Smell, taste, colour, touch and ethereal sound are their respective fundamental characters. They are brought to the living entities by the five external sense organs namely nose, tongue, eye, skin and ear respectively. But *kshiti, apah, tejah, marut, vyom* are not necessarily strictly identical to earth, water, fire, air and ether respectively. These external sense organs remain inactive during sleep. Therefore, during sleep, the external physical world becomes unmanifest.

The second level is the subtle material world, which is manifested through the internal sense organ called the *antahkarana*. This world is not available via the external sense organs. This *antahkarana* has three fundamentally different characters or features, namely *ahamkara* (material identification), *buddhi* (material intelligence) and *manas* (material mind). The function or character of *ahamkara* is to identify oneself with matter, both gross and subtle for example, material body, material mind and material intelligence. The function of *manas* is to present the living entities with continuous material pictures. The function of *buddhi* is to discriminate by providing a frame of reference for accepting and rejecting what is provided by the mind. The perceptions at these two levels are through the instruments of the sense organs and are, therefore, indirect (*paroksha anubhuti*) in nature.

Dreaming state and the state of deep sleep are the two states of sleep. The *antahkarana* remains active when the *jivas* are physically awake as well as when they are in the state of dream and remains inactive only during deep sleep. Thus, the subtle material world remains manifest when *jivas* are physically awake as well as when they are in the dreaming state and vanishes completely in the state of deep sleep.

The third level of reality is the non-material reality. Non-matter (*chetan padartha*), both infinite as well as infinitesimal, sustains this non-material world, which is not available either by external or by internal material sense organs. Non-material world is graspable by a person, called '*tattva-drasta*', the seer of *tattva-vastu* (absolute truth), who is free from all the material defects, namely *Bhrama, Pramada, Vipralipsa* & *Karanapatava*, who is free from all material desires and attachments, only in the state of '*Samadhi*' (*aparoksha anubhuti*), when the curtain or the instrument of both the external as well as the internal sense organs are completely removed from the vision of the person concerned, when the

person directly sees the reality without any instrument or means or curtain in between. This is direct presentation of reality (*tattva-vastu*). Here, the reality is never re-presented or reflected in the mirror of the sense organs, made of inert matter.

Both the material realities are dependent upon this non-material reality for their manifestation, existence and sustenance. But the non-material reality is independent of material reality in all aspects. This non-material world is the reservoir of all non-material qualities devoid of *kapatata* (hypocrisy). All the non-material characters of this non-material world are reflected to the material world through the curtain of *kapatata* in an implicit manner in the sense that those characters are not observable directly by any of the sense organs, explicitly. The non-material character follows indirectly through logic. Knowledge, activity, feeling etc., in their pure forms, are all inseparable qualities of non-matter (*chetan padartha*). Non-matter does not have any secondary or tertiary qualities. All qualities, characters are inseparable ingredient themselves.

All these three levels of reality have ontological existence. They are not models.

One category of *nastikas* accepts only the first level of reality and reject both the second level as well as the third level of realities. A second category of *nastikas* accepts both first and second levels of material reality with second being independent of the first one, while the first being dependent on the second one. They reject only the non-material reality. *Astikas* accept all three levels of reality with the third level being independent of the first two. This accepting or rejecting of realities is from the point of view of ontological existence.

Gross and subtle matter, represented through the sense organs, basically constitutes a curtain with all the material characters originating from this curtain. The basic character of this curtain is '*kapatata'* (hypocrisy). Side by side, the basic character of the non-material world is '*niskapatata'* (freedom from hypocrisy). Through this curtain, show of this material world takes place.

The position of the *jivas* is marginal (tatastha). They can choose either to remain and continue in this material world with *kapatata* as its basic requirement and continue to embrace materialism, or when given a choice, the *jivas* can opt for the non-material world with *niskapatata* as its basic requirement for their field of activity. Thus, though this hypocrisy is not a basic ingredient or character of the living entities (the *jivas*), the *jivas* had attached themselves and had identified themselves falsely with this basic material character, and thus, had been involved in materialism from a time, which has no beginning. This is at the root of materialism. This basic material character manifests itself in three varieties, namely *sattva, rajas* and *tamas*. Attachment to this basic character is the cause of bondage. And it pulls one away from 'Absolute Truth'. This *kapatata*, the basic material character, in the form of *sattva*, *rajas* and *tamas*, provides the platform for the functioning of all the sense organs, and thus, the material world, in both the gross and subtle forms, manifests. In this world of matter, everything is implicit and nothing is explicit, because the curtain of hypocrisy intervenes. From the perspective of *maya*, a potency of non-matter dealing with

the affairs of the material world, matter has two basic features. One feature covers the living entities from seeing the truth and the other feature gives a false, distorted picture of reality in the form of the gross and subtle material world. This is necessary to fulfill the desire of the *jivas*. The extent to which the curtain of *maya* (matter), along with its covering as well as false, distorted character, remains, is controlled by the non-material reality depending upon the desire and qualification of the jivas.

Matter (*jada padartha*) is inert, unconscious (devoid of *chetana*) devoid of knowledge, activity and feeling. Matter cannot act by itself. It is dependent upon non-matter for knowledge and activity. Reality is one without a beginning, without an end, though there are varieties without any contradiction, without any duality, and varieties can be reconciled and brought to convergence by accepting non-materialism (*niskapatata*). Duality, contradiction, divergence, violence etc., are all characters of matter rooted in *kapatata* only. They all remain as long as one remains in materialism by the way of continuing to accept *kapatata*. As soon as the *jiva* leaves *kapatata*, the curtain of falsity also leaves the *jiva*, and consequently, the non-material world gradually dawns with all its characters.

Materialism creates problems without solving, because problems, duality, falsity etc. are its very ingredient, sustenance. Materialism is dialectical in character (*dvandvamulaka-vastu vada*). Non-materialism solves problems of this material world instead of creating them. It uses matter through proper knowledge, so that the degrading power of matter evaporates, whereas materialism uses matter improperly, because of false knowledge and invites problems. Matter is not the source of problem, but the improper use of matter, rooted in the intention of materialism and not in the external work itself, is really the root problem. In non-materialism, there is no place for contradiction, hypocrisy, jealousy, divide-and-rule etc. Here, judgment, decision, conclusion is based upon intention and not on the external activity itself. Reality has its own fundamental character, flavour which is neither good nor bad. Non-materialism of the Vedas is based on *Samadhi*, a direct vision of the reality, and not on an initial assumption or dogma or faith. Dogma or blind faith has no place in non-materialism. In the non-material world, everything is true and explicit, clear like a crystal, because the obstacle, curtain of hypocrisy is absent. In the material world, because of the curtain of hypocrisy, everything is false, distorted, hidden behind the curtain.

Since the non-material reality is not observable by any of the material sense organs, it is made available through the body of knowledge called the Vedas. The vedic literatures are handed over by the seers of truth who see them in the state of *Samadhi*. These vedic literatures, in different forms, are carried through 'srouta parampara' (chain of succession of seers of truth in vedic tradition) in this physical world. Vedic literature talk about the non-material reality and also provides the means to attain it. Any one and every one, independent of their cast, creed and material qualification, can accept the vedic or the non-material way and reach the non-material reality only through Guru. Guru, being a member of the '*Srouta parampara'*, can bring forth this non-material reality to the disciple. The only qualification needed for this purpose is to have *sraddha* in Guru.